एक स्कूल मैनेजर की डायरी के कुछ पन्ने-XIV

स्कूल, इलाक़ा, बिरादरी और राज्यः रंजिशें और गर्दिशें-I

फ़राह फ़ारूक़ी

मैं अपने चौथे लेख में मौहल्लों और मज़दूरों के बारे में लिख चुकी हूं। मौजूदा लेख में मैं स्कूली बिरादरी को समझने-बूझने की कोशिश कर रही हूं। स्कूल की स्थिति, संस्कृति और माहौल इस बात से मुतास्सिर होता है कि स्कूल में पढ़ने वाले बच्चे कौन हैं, इनके वालदैन का सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य क्या है? क्या वालदैन ही स्कूली बिरादरी का हिस्सा हैं या फिर आसपास के लोग जो स्कूल से रिश्ता रखते-जताते हैं और इसमें हो रहे काम पर असर डालते हैं? इस लेख में मैं बिरादरी की अवधारणा को अपने स्कूल के संदर्भ में समझने की और रिश्तों के जाल को सुलझाने की कोशिश कर रही हूं। हमारे स्कूल के संदर्भ में वालदैन सहित इलाक़ाई लोगों का स्कूल से रिश्ता होना, जताना, निभाना, हड़काना, ज़ोर दिखाना और फ़िक्र दर्शाना सभी बिरादरी की समझ को पेचीदा बनाता है। यह रिश्तों का सफ़र तारीख़ के दौर के साथ बदला ज़रूर है लेकिन रहा तो पेचीदा ही है। साथ ही यह देश के मुसलमानों के आपसी फ़र्क़, ख़स्ताहाल, टूटते ख़्वाब और हसरतों का भी आइना है। एक कशमाकश का आलम है जिसमें रंजिश-टकराव, तोहमत-तंक़ीद, बेएतबारी और ताक़तवर की पैरवी सभी शामिल है। मौहल्लों के बीचों-बीच स्थित हमारे स्कूल ने वक़्त, हालात और जज़बात के रिश्तों में बच्चों और वालदैन के अलावा अनेकों लोगों को पिरोया हुआ है।

यहां पर इलाक़े और बिरादरी समूहों को कई वजह से समझने की कोशिश की गई है। एक, बच्चों के ज़रिए इन बिरादरियों से स्कूल का रिश्ता तो है ही। दूसरा, इनमें से कई समूह स्कूल में दख़ल देते हैं और काम में हस्तक्षेप करते हैं। इनके हस्तक्षेप और स्कूल की स्थिति के बीच रिश्ता समझने की कोशिश की गई है। तीसरा, बिरादरियों में आपसी फ़र्क़ हैं, साथ ही इनमें ग़ैरबराबरी का एहसास, एक-दूसरे को कमतर और ताक़तवर समझना भी साफ़ झलकता है। यह अगर, पाठ्यक्रम का हिस्सा बने तो क्या मौहल्ले-इलाक़े के ज़रिए और इससे जुड़ी अपनी हैसियत को समझने से क्या समाज और दुनिया की समझ बन सकती है? क्या आज की राजनीति इस फ़र्क़ को नज़रअन्दाज़ करके न सिर्फ़ सांस्कृतिक दौलत को नकारती है बल्कि लोगों को घेटो (Ghetto) में क़ैद होने पर मजबूर करती है। यह लेख यह भी बताता है कि घेटो के क़ैदी क्योंकि रुतबे, पैसे, हिम्मत, दिल्ली के बाशिन्दे होने के वक़्फ़े के ऐतबार से आपस में फ़र्क़ हैं तो इन्होंने घेटो में भी दायरे बना रखे हैं। हां, ये तो लेख से ज़ाहिर होता ही है कि कुछ लोगों की आवाज़ें सुनी जाती हैं, और कुछ की चीख़ें भी नज़रअन्दाज़ कर दी जाती हैं। इस लेख में मैंने जगह-जगह फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की नज़्म ''कुत्ते'' के अशार का इस्तेमाल किया है। बल्कि लेख के ज़रिए नज़्म को समझने की और नज़्म की आंखों से लेख को देखने की कोशिश की है।

शिक्षा के अधिकार क़ानून (RTE 2009) के हिसाब से बिरादरी को देखा जाए तो वालदैन की 75 फ़ीसदी हिस्सेदारी स्कूल इन्तज़ामिया कमेटी में होना लाज़मी है। जबकि सवाल यह भी उठाया जा सकता है कि क्या शामिल करने-होने का मतलब आवाज़ पा जाना है। शायद तादाद और साथ से कुछ फ़र्क़ पड़े। हमारे स्कूल में भी आर.टी.ई. के हिसाब से स्कूल इन्तज़ामिया कमेटी बनाई गई है। अभी इसकी चंद ही मीटिंग हो पाई हैं। इसके अलावा एक वालदैन टीचर कमेटी भी है जिसने कई साल काफ़ी अच्छा काम किया था, जिसके बारे में मैं एक लेख में लिख चुकी हूं। यह लेख पढ़कर आप ही बताइएगा कि क्या आर.टी.ई. द्वारा दी गई बिरादरी की समझ के दायरे को बढ़ाने की ज़रूरत है?

पैर जमाना

अगर हम अपने स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों और उनके वालदैन की बात करें तो कम से कम 65 से 70 फ़ीसदी वह लोग हैं जो पिछले

लेखक परिचय

दिल्ली विश्वविद्यालय के लेडी श्रीराम कॉलेज में बीएलएड कोर्स से जुड़ी रही हैं। आजकल जामिया मिलिया इस्लामिया के शिक्षा विभाग में प्रोफ़ेसर हैं।

एक या दो दहाई पहले कमाई और बच्चों की पढ़ाई की ख़ातिर दिल्ली आए हैं। दो वक़्त की इज़्ज़त की रोटी और सर पर एक छत होने की कशमाकश में जुटे हैं। इनमें से काफ़ी लोग नबी करीम के इलाक़े में रहते-काम करते हैं। ज़्यादातर बैग, पर्स, डायरी, बैल्ट वग़ैरा बनाने के काम से जुड़े हैं और बिहार के ज़िला मधुबनी, चम्पारण, सीतामणी, दरभंगा वगैरा के इलाक़ों से हैं। कुछ लोग उत्तर प्रदेश, राजस्थान के भी हैं। कुछ के अपने कारख़ाने हैं और काफ़ी लोग औरों के कारख़ानों में मज़दूरी करते हैं। माली एतबार से बस चंद ही हैं जो कुछ बेहतर हैं वरना सबका ही बुरा हाल है। परदेस में एक-दूसरे से हिम्मत तो मिलती ही है। आसपास के मौहल्लों में जो लोग कई पीढ़ियों से पैर जमाए हैं उनसे यह परहेज़ ही करते हैं। कहना है, ''एक से एक उजले कपड़े पहनकर दिल्ली वाले तो बस गाली-गलौज ही जानते हैं, हम तो इनसे दूर-दूर ही रहते हैं।'' आप तो जानते ही हैं कि हमारे स्कूल में काफ़ी बच्चे ऐसे भी हैं जो अकेले दिल्ली में रहते हैं, उनके परिवार बिहार में हैं। कारख़ानों में रहते-काम करते हैं और स्कूल भी आते हैं। जिन बच्चों के परिवार दिल्ली में हैं उनके वालदैन को जब स्कूल बुलाया जाता है तो कभी हाज़िर हो जाते हैं, ज़्यादातर फ़ुरसत निकालनी मुश्किल ही होती है। जब आते हैं तो अक्सर हम इन्हें शर्मिदंगी के हार से ही नवाज़ते हैं। या तो हमारे पास उनके बच्चों की शिकायतों के पुलिन्दे रहते हैं या फिर फ़ीस का तक़ाज़ा। लगता है बच्चे और वह खुद बच्चों के पिछड़ेपन के लिए ज़िम्मेदार हैं। पाठ्यक्रम, स्कूल, टीचर, इन्तज़ाम और नीतियां सभी बेबस-बेकुसूर। ख़ैर, जब ज़्यादा बेबसी-बदहाली देखते हैं तो हम मामूली-सी सौ-सवा सौ रुपये की फ़ीस माफ़ करने का ''नेक'' काम भी करते हैं। जब सरकार से वज़ीफ़े, यूनीफ़ार्म या स्टेशनरी वगैरा का पैसा आता है तब वालदैन वक़्त से लेने पहुंच जाते हैं। तब हम इन्हें ताने भी दे देते हैं, ''कभी बच्चों का हाल पूछने तो आते नहीं हैं, पैसा लेने तो दौड़े हुए आ गए।'' बस इन वालदैन से हमारा इतना ही रिश्ता है। हम इनके नाअहल बच्चों पर इनायत करते हैं, यह अगर एहसान नहीं मानते तो शिक्षा को हक़ भी नहीं समझते। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ इनकी हालत पर यूं आंसू बहातेः

ज़माने की फिटकार सरमाया इनका
जहां भर की धुतकार इनकी कमाई

न आराम शब को, न राहत सवेरे
ग़लाज़त में घर नालियों में बसेरे

कुछ सालों में लोग मेहनत-मशक़्क़त करके पैर जमा लेते हैं। नबी करीब में तक़रीबन 15-20 फ़ीसदी बिहारियों ने अपने घर ख़रीद लिए हैं। चाहे एक ही कमरे का घर क्यों न हो जिसमें कारख़ाना भी चलता हो लेकिन अपनी छत तो अपनी ही होती है। इलाक़े में गंदगी तो उरूज पर है ही, कच्ची-उधड़ी सड़कें, नाले-गटर बहते हुए। पानी-बिजली की क़िल्लत भी रहती है। सराय ख़लील में भी काफ़ी लोगों ने घर खरीदे हैं। यह तो अच्छा साफ़-सुथरा मोहल्ला है जहां डी.डी.ए. के फ्लैट बने हुए हैं। कई बार पुराने बाशिन्दे फ़िक्रमन्द भी हो जाते हैं, ''यह बिहारी तो बहुत प्रोग्रेस कर रहे हैं, बुरे-फटे हाल आते हैं, धीरे-धीरे काम बढ़ा लेते हैं।'' अभी कुछ दिन पहले एक बिहारी बच्चे की मौत हो गई। हादसे की ज़िम्मेदारी एक ''इलाक़ाई'' आदमी की ठहराई गई। लोगों ने बचाव के लिए नेताओं का दबाव बनाया तो इन लोगों ने मिलकर जन्तर-मन्तर पर धरना दिया, हल्ला बोला। तब जाकर मुज़रिम की गिरफ़्तारी हुई। जहां अपने को दिल्ली का पुराना बाशिन्दा मानते हुए लोग नए बाशिन्दों को मेहमान होने का एहसास दिलाते रहते हैं। वहीं नए बाशिन्दे नई जगह को अपनाने में और पुरानों की हठधर्मी की ख़ामोश मुख़ालफ़त करने में लगे हैं।

ख़याली पहचानें और दीवारें

स्कूल के आसपास के गली-कूचों के नाम माज़ी की तरजुमानी करते हैं। कटरा आत्मा राम, गली शेख़ियान, ठेले वाली गली, गली दरज़ियान, चिमनी मिल, क़साबपुरा में बसने वाले लोगों की व्यावसायिक पहचान और ज़ात-पात का एक अंदाज़ा इन जगहों के नामों से मिलता है। इन गलियों-मौहल्लों ने तारीख़ के कई पन्ने पलटे हैं और अब नाम का व्यवसाय के साथ ताल्लुक़ इन्हीं पन्नों में कहीं खो गया है। फिर भी कुछ आपसी फ़र्क तो हैं ही जिनके आधार पर स्कूल के आसपास बसे लोगों को मोटे-तौर पर तीन बिरादरियों में बांटा जा सकता है। बल्कि यह कहना ज़्यादा दुरुस्त

होगा कि ये समूह अपने-आपको बिरादरी के रूप में देखते हैं। यह तीन बिरादरियां हैंः मिरधे ज़ात के लोग जो टायर वालों के नाम से मशहूर हैं। यह लोग बिलकुल स्कूल से लगे बाड़े के इलाक़े में जैसे चमेलियान रोड, मौहल्ला शेख़ियान वग़ैरा में रहते हैं। क़ुरैशी बिरादरी के क़साई पेशे के लोग स्कूल से कुछ दूरी पर, क़साबपुरा और ईदगाह के इलाक़ों में बसे हैं; पंजाबी बिरादरी से ताल्लुक़ रखने वाले लोग आज़ाद मार्किट, बाग़ीचे अच्छेजी, बेरी वाला बाग़ के इलाक़ों में रहते हैं। तीनों ही बिरादरियों की चौथी-पांचवीं पीढ़ी अब इन्हीं इलाक़ों में बसी है यानी यह लोग आज़ादी से काफ़ी पहले से यहां बसे हैं। इन तीन बिरादरियों के अलावा अंसारी, सैफ़ी, सक़्क़े, फ़क़ीर बिरादरियों के लोग भी आसपास के मौहल्लों में रहते हैं। पक्की-गली की तरफ़ शिकारपुर के शिया लोग रहते हैं, ज़्यादातर शीशे के कारोबार से जुड़े हैं। इन बिरादरियों की तादाद ऊपर दी गई बिरादरियों से कम है, साथ ही इनमें पैसे-रुत्बे वाले लोगों की तादाद भी कम ही है जिस वजह से इनका दबदबा भी दबा हुआ सा ही है। इलाके में हिन्दुओं की तादाद कम होती रही है, ख़ासतौर से सन 1992 और सन 2002 के बाद घटी है। जो हैं वह पहाड़ी धीरज की तरफ़, फिल्मिस्तान और चिमनी मिल के आसपास रहते हैं। रुत्बे-पैसे वाले हैं जिनका कारोबार सदर बाज़ार की तरफ़ फैला हुआ है। मौहल्ले साफ़-सुथरे हैं। जैनियों के मौहल्लों में तो दोनों तरफ़ गेट लगे हुए हैं। नबी करीम के आगे सदर के पास खटीक और दलित जाति के लोगों की भी बस्तियां हैं।

आपको यह तो अंदाज़ा हो गया होगा कि मैंने बिरादरी और ज़ात शब्द का इस्तेमाल जाति-समूह के रूप में पहचान से किया है। क़साबपुरा और क़ुरैशी बिरादरी के क़साई, स्कूल से आधे-एक किलोमीटर की दूरी पर क़साबपुरा और ईदगाह के इलाक़ों में रहते हैं। यह पुरानी आबादी शाहजहांनाबाद के किनारे पर है। हाशिए के लोग हाशियों पर ही सिमटा दिए जाते हैं। शहर के बढ़ने-फैलने के साथ-साथ यह आबादी तो किनारे पर नहीं रही लेकिन आलूदगी (प्रदूषण) और गंदगी की वजह से तक़रीबन सौ-साल पुराने क़साई-ख़ानों को इलाक़े से 25-30 किलोमीटर दूर ग़ाज़ीपुर के इलाक़े में मुनतख़िल कर दिया। 2009 में जब मैंने स्कूल का काम संभाला था तब इलाक़े के लोग बुरे वक़्त से गुज़र रहे थे। हज़ारों लोग काम-कारोबार से हाथ धो बैठे थे। ख़ासतौर से जो लोग इस कारोबार में ताज़िर नहीं बल्कि मज़दूर की हैसियत से जुड़े थे, मण्डी और क़साई ख़ाने जाने में उनका काफ़ी ख़र्चा हो जाता था और कमाई बस दो-तीन सौ रुपये दिन की ही होती थी। बिरादरी में हैसियत-रुत्बे वाले लोग चंद फ़ीसदी ही हैं लेकिन तब इन्होंने अपनी बिरादरी के ग़रीब-गुरबा को फ़ाक़ों से बचाया था। 2009-10 में स्कूल ने क़साबपुरा के क़ाफी बच्चों की फ़ीस माफ़ की थी। इसके बावजूद कुछ बच्चों ने पढ़ाई छोड़कर छोटा-मोटा काम संभालकर अपने परिवार की मदद की थी। बिरादरी का हिस्सा होने के अगर अपने फ़ायदे हैं तो नुक़सान भी हैं। बिरादरी की अपनी पंचायत या बुज़र्गों की जमात है। बड़े-बुजुर्ग लड़कियों के आगे तक की पढ़ाई करने के हक़ में नहीं हैं। ज़्यादातर लड़कियों को दसवीं के बाद या हद से हद बारहवीं के बाद घर बिठा लिया जाता है। मोनिस जो ग्यारहवीं में पढ़ता है मैं उसके घर गई तो पता चला उसकी बहन बमुश्किल बारहवीं तक पढ़ पाई थी। मां ने बताया, ''इनके दादा तो आठवीं के बाद ही नहीं चाहते थे कि आगे पढ़े, तब मैं अड़ गई थी कि यह दसवीं तक तो पढ़ेगी, फिर ख़ैर किसी तरह बारहवीं कर पाई''। मैंने कहा, ''अब आप क्यों नहीं अड़ जातीं कि यह कॉलेज भी जाएगी।'' बोलीं, ''क्या फ़ायदा, अब तो बस इसका अच्छा रिश्ता मिल जाए''। मैंने बताया कि हमारे स्कूल में एक बच्ची क़साई बिरादरी की थी वह कॉलेज तक पढ़ पाई और अब स्कूल में आरज़ी तौर पर पढ़ा भी रही है। मोनिस की बहन के मुंह से निकला, ''वह अब हमारे बरादर नहीं है।'' मां ने घूरा तो चुप हो गई। क़साई के नाम पर और मौहल्लों के लोग क़साबपुरा के लोगों का और बच्चों का चित्रण करते हैं। कहना है, ''ज़रा में छुरी-चाकू निकाल लेते हैं, ख़तरनाक लोग होते हैं।'' या फिर, ''इनसे तो बचकर ही रहना चाहिए''। यह सोच स्कूल के बच्चों और टीचर में भी आम हो गई है। अगर क़साबपुरा के बच्चों को एक साथ समूह में पाते हैं और ताक़तवर समझते हैं तो मुंह पर ताने नहीं देते। क्योंकि फिर मौहल्ले से (कई बार) चचेरे-फुफेरे-ममेरे भाइयों को बुला लिया जाता है और घमासान ''युद्ध'' के इमकानात होते हैं। वैसे लड़ाइयां सिर्फ़ बाड़े और क़साबपुरा के बच्चों और बड़ों में ही नहीं होती बल्कि पल्ले-उल्ले बाड़े (दो तरफ़ का मौहल्ला) वालों में भी होती हैं। अब पहचानें तय कर लो तो लड़ाइयों का क्या है हो ही सकती हैं। जबकि मुझे जो क़साबपुरा के बच्चे मिले वह बहुत ही नाजुक

मिज़ाज और प्यारे मिले। हमारे मोनिस मियां को ही ले लीजिए। पढ़ाई के नाम पर पसीने छूटते हैं, बातों में शाइस्तगी और मौहब्बत झलकती है। इसी तरह हमारे शाहज़ेब है अंग्रेज़ी बोल पाने का बहुत शौक़ रखते हैं जो कभी-कभी मज़ाक का बाइस भी बन जाता हैं, जैसे मुझसे बोले, ''Ma'am, good Kachoris and Halwas are made there'' (गुड़ कचौड़ीज़ एण्ड हल्वाज़ आर मेंड देयर)। क़मर ने छेड़ा, ''मैम पूरे क़साबपुरे में सबसे अच्छी अंग्रेज़ी बस इन्हीं की है, हर चीज़ के साथ एस (S) लगाते जाओ अंग्रेज़ी बन जाती है''। कसाबपुरा क्योंकि स्कूल से कुछ दूरी पर है इसलिए वहां के लोगों का स्कूल में दख़ल तो रहता है लेकिन मुक़ाबलतन कम।

क्योंकि मण्डी को इलाक़े से दूर भेज दिया गया है तो छोटे व्यापारी छुप-छुपाकर यहीं काम करते हैं। मण्डी से जानवर लाना, ज़िबह करना, बेचना कई बार पुलिस के चक्कर में ला देता है। वैसे भी पुलिस, एम.सी.डी. (MCD) के लोग, डॉक्टर वगैरा, जानवरों को चैक करने, लाइसैंस देखने के बहाने चक्कर लगाते रहते हैं। रहने की जगह से गंदगी के नाम पर क़साई ख़ाने हटा तो दिए गए लेकिन हज़ारों लोगों पर अस्रात की ज़िम्मेदारी नहीं उठाई गई। बिरादरी ने मुश्किल वक़्त में एक-दूसरे का साथ तो दिया लेकिन रोज़ की कशमाकश में, पुलिस को खिलाने-पिलाने और नेताओं को खुश रखने से ही काम चल पाता है।

पंजाबी मुसलमान बिरादरी के लोगों में हैसियत वाले लोगों की तादाद बनिस्बतन ज़्यादा है। यह लोग इलाक़े में मदरसे-मकतब चलाने का नेक काम भी करते हैं। पंजाबी बिरादरी के काफ़ी बच्चे ''अच्छे'' स्कूलों में जाते हैं, हमारे स्कूल में तो अब कम ही पढ़ते हैं। सुना है पहले कभी काफ़ी बच्चे आते थे। इस बिरादरी के लोग अपने में अलग-थलग ही रहते हैं। क़साबपुरा वालों को और टायर वालों यानी मिरधों को अपने से कमतर ही समझते हैं। शादियां आपस में ही होती हैं और काफ़ी ऐतबार से एक जाति समूह की शबाहत आती है। बड़ी दीनदार बिरादरी है, हमारे एक टीचर का कहना है, ''अगर किसी के पांच लड़के हैं तो माशाअल्लाह उनमें से दो तो हाफ़िज़ मिलेंगे''। बिरादरी के ज़्यादातर लोग तिजारत करते हैं, अच्छी हैसियत वाले हैं। काफ़ी बच्चियों की तालीम बस स्कूल तक महदूद रहती है लेकिन अब पंजाबियों की अंजुमन में इल्म की फ़िक्र बढ़ी है तो काफ़ी लड़के-लड़कियों ने कॉलेज जाना शुरू कर दिया है। अंजुमन से जुड़े हैसियत वाले लोग समाज की ख़िदमद में लगे हैं। नक़ी मलहोत्रा साहब पक्के मुसलमान हैं और अंजुमन मेडिकल सेन्टर चलाते हैं। पैसा बिरादरी का लगा है लेकिन इलाक़े के ग़रीब-गुरबा का बहुत कम पैसे में इलाज मुमकिन हो पाया है। अस्पताल के दरवाज़े चाहे सबके लिए खुले हैं लेकिन सोचते बिरादरी के ताल्लुक़ से ही हैं। मुझसे मिले तो तजवीज़ दी, ''अगर आपकी सोसाइटी स्कूल नहीं चला पा रही है तो हमें दे दीजिए हम बिल्डिंग भी बनवा देंगे लेकिन अपनी तरह ही चलाएंगे।'' हर बिरादरी के बारे में अच्छी-बुरी बातें दोनों मशहूर हैं। कुछ का कहना है मुसलमान पंजाबी और हिन्दू बनिये एक तरह के हैं। पैसों के आगे कुछ नहीं देखते।

हमारे स्कूल से लगे हुए इलाक़ों में ज़्यादातर मिरधे बिरादरी के लोग रहते हैं जो टायर वालों के नाम से मशहूर हैं। वह लोग अपने-आपको दिल्ली का आबाई या मूल बाशिन्दा कहते हैं। कहना है 1857 से पहले दरियागंज में बसे थे। फिर ''ग़दर'' के बाद यहां आ गए, कुछ लोग मेरठ वग़ैरा चले गए। इस बिरादरी के रईस लोग टायर के कारोबार से अच्छे पैसे कमा रहे हैं। ग़रीब-कम हैसियत वाले लोग हैसियत वालों के साथ काम में जुटे हैं और कुछ अलग छोटा-मोटा कारोबार भी कर रहे हैं। और बिरादरियों की तरह इसमें भी मालदार और ग़रीब सभी तबक़ों के लोग हैं। पूरे इलाक़े में मगर परेशानहाल लोगों की ही तादाद ज़्यादा है। अगर कभी किसी बच्चे के दाख़िले की, फ़ीस-माफ़ी की, हाज़िरी बढ़ाने, पास करने की सिफ़ारिश लेकर आते हैं और मना कर दो तो कई लोग हंगामे पर उतर आते हैं। कहना है, ''अबदुर्रहमान साहब का मदरसा चलता था यहां तो। तक़सीम के बाद यहां रैफ़्यूजी आ गए थे। अगर निकालने के लिए मुक़दमा करते तो चलता रहता। बात की तो उन्होंने कहा तुम लोग इन्हें बाहर निकाल दो और बच्चों को लाकर सिपारा पढ़ाने बिठाओ। हम तो जब क़ायदा पढ़ते थे, चोटियां पकड़कर औरतों को बाहर किया था। यह तो भई वह प्रोपर्टी है जिसके लिए पुरखों ने जानें दी हैं।'' तारीख़ की किताब से पन्ना निकालकर हक़ जताया जाता है। इस जगह पर जहां स्कूल है मदरसा रहमानिया चलता था। चलाने वाले अबदुर्रहमान साहब पाकिस्तान चले

गए और चाबी ज़ाकिर हुसैन साहब को दे गए थे। कुछ वक़्त के लिए यह जायदाद कस्टोडियन (Custodian) के हवाले हो गई थी और यहां मुहाजिरों को पनाह दी गई थी। इलाक़े के लोगों को डर था कि बच्चों की पढ़ाई का मरकज़ ही उनसे छिन जाएगा। कभी और स्कूल की तारीख़ का तफ़सीली ज़िक्र करूंगी। अब इलाक़े का बड़ा मदरसा मिस्बाउल उलूम चलाने का ज़िम्मा इसी बिरादरी के रईसों ने ले लिया है। जगह वक्फ़ की है। बिरादरी में पैसे वाले कम हैं लेकिन जो हैं वे ग़रीबों की मदद, बेवाओं के वज़ीफ़े का इन्तेज़ाम, ग़रीब बच्चियों की शादियों में मदद कर ही देते हैं। इलाक़े के एक बुज़ुर्ग ग़रीब बच्चियों की मजमूई शादियां भी करा देते हैं। बहुत से लोगों की हालत सीलिंग के बाद से भी ख़राब हुई है (Sealing in Delhi 2006)। कारख़ाने वगैरा बंद होने से बदहाली बढ़ी है। हमारे स्कूल के एक टीचर के हिसाब से, ''मैडम, ऐसे-ऐसे सफ़ेद पोश लोग नज़र आएंगे लेकिन पता चलता है कि घर में खाने के लाले पड़ रहे हैं। वह तो बिरादरी की वजह से चूल्हा जलता रहता है, इज़्ज़त बची रहती है।'' मज़हब से जुड़े अक़ीदों में तीनों बिरादरियों में काफ़ी फ़र्क है। टायर-बिरादरी, बरेलवी ख़यालात से वाबस्ता है। इनके यहां वाज़-मीलाद, उर्स, वग़ैरा का रिवाज है। पंजाबी बिरादरी के लोग इनके मज़हबी अक़ीदों को ग़लत क़रार देते हैं। बल्कि कहना है कि यह लोग तो ''बिदत'' करते हैं। यानी इस्लाम के ''असली'' पैग़ाम में मिलावट कर दी है और ग़ैर-इस्लामी अक़ीदे हैं। पंजाबी बिरादरी के लोग हदीस और कुरान की रौशनी में ही इस्लाम और ज़िन्दगी को देखते हैं। वैसे तो वक़्त के साथ मजहबी अक़ीदे भी बदल रहे हैं। कुछ लोग जो पहले बरेलवी अक़ीदे के थे अब जमात के प्रभाव में देवबंदी अक़ीदे को मानने लगे हैं। तीनों ही बिरादरियों के रहन-सहन, रिवाजों में काफ़ी आपसी फ़र्क है। शादियां आपस में नहीं करते हैं, अपनी ही बिरादरी में करने की कोशिश होती है।

टुकड़ों की सियासत

स्कूल के आसपास के गली-कूचों में बसे मज़दूर, ठेकेदार, व्यापारी अमीर-ग़रीब, नेता, नेतागिरी करने वाले, समाज-सेवक अपने-आपको समाज सेवक दर्शाने वाले, पुलिस-थाने, आर.डब्लू.ए. (RWA Residents Welfare Association) के सदस्यों का और प्रेस या अख़बार वालों का एक जाल-सा है जिसमें मदद, इख़तलाफ़, दिलचस्पियां, खुदगर्ज़ियां सब शामिल हैं। कई बार स्कूल भी चपेट में आ ही जाता है। गली-कूचों के नुक्कड़ पर आर.डब्लू.ए. के लोगों के नामों के फ़ोटो समेत बोर्ड लगे मिलते हैं। यह तो मैंने लिखा ही है कि 2006 में यह इलाक़ा सीलिंग की चपेट में आ गया था जिसने लोगों की माली हालात को काफ़ी मुतास्सिर किया था। अब भी कई बार ख़बर मिलती है कि किसी कारख़ाने में आलूदगी के इलज़ाम में ताला लग गया। लोगों की फ़र्मे बनाने की, तार खींचने की, पुर्जे बनाने की और तरह-तरह की फैक्ट्रियां या कारख़ाने हैं। मशीनों में बिजली का तो बहुत ख़र्च होता ही है। बिजली की चोरी के बग़ैर बचत मुमकिन नहीं है। सारी बिजली तो सरकार कम दामों में अम्बानी-टाटा जैसे पूंजीवादियों को ख़ास आर्थिक हलक़ो (Special Economic Zones) में दे डालती है। इलाके में कभी यह भी होता है कि किसी कारख़ाने का बिजली का बिल लाखों में आ जाता है। कारख़ाने का ताला खुलवाने और बिल संभलवाने के लिए पुलिस को खिलाना-पिलाना, नेताओं को खुश रखना आम है। जब काम हो जाता है तो देग चढ़ जाती है दावत उड़ाई जाती है। वैसे भी इतने घने इलाक़े में सुविधाओं की सख़्त कमी है। पानी, अस्पताल, सड़कें, बिजली इन सबका मुहैय्या होने का रास्ता नेता के बंगले के सामने से ही गुज़रता है। कारोबार में सफ़ेद-काला, नफ़ा-नुक़सान क़ानून और पुलिस के हाथों से बचने की ज़रूरत को बढ़ा देता है। तब काले-सफ़ेद के जादूगर राजनीतिक-नेताओं के पास नज़र उतरवाने, बला-टलवाने जाना पड़ता है। वो भी खूब जानते हैं कि अगर काम उन्हीं के ज़रिए होगा, इदारे उन्हीं के इशारों पर हिलेंगे-डुलेंगे तो आर.डब्लू.ए. और समाज सेवकों की डोर में बाक़ी मोती भी पिरे चले आएंगे। जी हां, वोट डालने। फ़ोन पहुंचने पर काम होने पर रईस लोग छोटा-मोटा जलसा भी करवा देते हैं जिसमें नेता, ''रियाया'' को तक़रीर से नवाज़ने चले आते हैं। इलाक़े ने यह एहसास मुझे दिलवाया है, कि दूर-दराज़ दिखने वाले नेता कैसे वोट की ख़ातिर इस जाल में मछली फांसने के काम की ख़ातिर-लोगों से जुड़े भी रहते हैं। आबादी देखकर तो कई बार महसूस होता है जैसे इलाका उबल-सा रहा है। यहीं ज़मीन हड़पनी है चाहे क़ब्रिस्तान ही की क्यों न हो, मुक़दमे बाज़िया लड़ाइयां अंदर-बाहर होने के (जेल से) क़िस्से भी सुनने में आते रहते हैं। कमी और कमियों की सूरत में

अफ़सानफ़सी का आलम है। इलाक़े में ''समाज-सेवकों'' की एक बाड-सी है। यह वे लोग हैं जो ''रियाया'' और ''आलम पनाह'' के बीच राब्ता क़ायम रखते हैं। बल्कि राज्य और ''राजाओं'' पर तनक़ीद करने, दबाव बनाने की बजाय ग़लतियां, ज़्यादतियां ढ़कने-छुपाने में लगे रहते हैं। दोनों तरफ़ फ़ायदे हैं, घुन पिसती रहे। अफ़सोस घुन गेहूं से ज़्यादा है। काम होने पर वक़्त आने पर वोट वुसुलवाते हैं। समाज-सेवक होना जगह के हिसाब से तो मुनासिब मशगूलियत है लेकिन यह चेतना जगाने की बजाय, बुझाने का काम अंजाम दे रहे हैं। हमारे एक साथी टीचर के हिसाब से, ''लोगों को ज़हनी तौर पर ख़रीद लेते हैं। पता चला बेवकूफ़ों ने नारे लगा-लगाकर गलों को फाड़ रखा है।'' फ़ैज़ इन्हें देखते तो कह उठतेः

जो बिगड़ें तो इक-दूसरे से लड़ा दो।
ज़रा इक रोटी का टुकड़ा दिखा दो।

यह मज़लूम मख़लूक गर सर उठाए
तो इन्सान सब सरकशी भूल जाए

हमारे स्कूल में भी ''समाजी ख़िदमदगारों'' का आना-जाना लगा रहता है। साल में एक-आध बार हमारे कुछ बच्चे भी इनके एहसान की चपेट में आ जाते हैं। जैसे एक सेवक ने बताया, ''मैडम, हम आज भी स्कूल का बहुत ख़याल रखते हैं। शुरू साल में, साहब बच्चों को बैग, स्टेशनरी का सामान वगैरा बांटते हैं। प्रिंसिपल साहब से पूछिए इस बार कम से कम 25 बच्चों को दिलवाया था।'' क्या करती मैंने भी अदब से शुक्रिया अदा कर दिया। एक दिन हमारे प्रिंसिपल साहब ने एक ''ख़िदमगार'' से मिलवाया। कहा, ''मैडम यह औरों की तरह नहीं हैं, बड़ी ख़ामोशी से बहुत काम कर रहे हैं। इनसे हमने कम्प्यूटर के लिए कहा था, वह भी- साहब के द्वारा (through) मिल जाएंगे। आज ही ख़त मिला है सैंक्शन (Sanction) हो गए हैं। इनके पास पूरी लिस्ट है, इन्होंने बड़े-बड़े काम करवाए हैं।'' भई, काम तो इलाक़े में चमचागिरी और वोटों के हार से ही हो पाते हैं। इलैक्शन से पहले बल्कि कोड आफ़ कनैडक्ट (Code of Conduct) लागू होने से पहले हमारे स्कूल में कम्प्यूटर आ गए। साथ में नेताजी भी तक़रीर करने, एहसान जताने, नारे लगवाने, इनायत का शुक्रिया लूटने चले आए। भई, हमने भी शान में क़सीदे पढ़े, हार भी पहनाया। सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा- हाय, आए दिन यही मुसलमान खुश किए जाने के इल्ज़ाम के घेरे में रहते हैं।

घेटो के क़ैदी

कई बार स्कूल में हंगामा करना, हक़ जमाना, गाली-गलौज भी जारी मौहल्ले की तरफ़ से रहता है। हमारी एक टीचर ने अच्छी बात कही, जिससे बाक़ी सब लोग भी मुत्तफ़िक़ थे। कहना था, ''बस यह लोग तो यहीं के शेर हैं, उधर गोल चक्कर के आगे, यहां बस आज़ाद मार्किट तक, उसके आगे तो इनकी हवा ख़राब होती है।'' हां भई, सारी हेकड़ी दबदबा इलाक़े के अन्दर ही है, असल में साथ और सहारा भी है। बाहर की दुनिया से कुछ मोहतात ही रहना बेहतर है। समाज ने उन्हें घेटो (Ghetto) में बंधने पर मजबूर-सा कर दिया है। इन मौहल्लों में अलगाव के शिकार लोगों पर फिर हर तरह के ख़िताब-लेबल भी चिपका दिए जाते हैं। ''मुसलमान तो जाहिल, गंदे, लड़ाकू सभी होते हैं।'' मौहल्ले-इलाक़े गवाही देते हुए भी नज़र आते हैं। सेवाओं की, जगह की कमी, लाचारी-मजबूरी कहां दिखती है। यह क़ौम आज तहफ़ुज के लिए भी मजबूर ही है। जैसे बिरादरियां एक-दूसरे को फ़ाक़े से मरने नहीं देती वैसे ही हिफ़ाज़त का ज़िम्मा भी अपना ही है। चिमनी मिल के पास एक साहब ने अपनी जायदाद में से बाहर जाने का खुफ़िया रास्ता निकालने का नेक काम किया है। कभी खुदा न करे दंगों या कर्फ़्यू की सूरत में काम आ जाएगा। कहना है, ''पुलिस कहां हमारी है।'' डर का एहसास बड़ों ने छोटों को भी सौंप दिया है। आजकल एक से दसवीं तक की कक्षाएं स्कूल से एक-आध किलोमीटर दूर कुतुब रोड के एक सरकारी स्कूल में लग रही हैं। अगले लेख में लिखूंगी ऐसा क्यों है। आसपास दलित और हिन्दू लोगों के इलाक़े हैं। मैं स्टाफ़ रूम में बैठी थी तभी आधी छुट्टी के वक़्त एक बच्चा घर जाने की दरख़ास्त लेकर आया। इस चौथी कक्षा के बच्चे से वाइस-प्रिंसिपल ने कहा, ''खैरियत

से इतनी दूर घर अकेले चले जाओगे?'' जबाव दिया ''मैम मुसलमानों के मौहल्लों से होता हुआ जाऊंगा।'' मैं इस तरह की बहुत-सी मिसालें दे सकती हूं। अलगाव का शिकार करके पहले घेटो में बंद किया, फिर ख़िताबों से नवाज़ दिया। दीवारें तोड़ने के लिए क़ुर्बत ज़रूरी है।

इदारे के इरादे

स्कूल एक तालीमी इदारे के रूप में काम करता रहे यह कोशिश इन्तज़ामियां के लोगों के साथ-साथ स्टाफ़ की भी रहती है। आपको यह तो अन्दाज़ा हो गया होगा कि मौहल्ले और गली-कूचों में रहने वालों में माली ऐतबार और रुत्बे के हिसाब से आपस में बहुत फ़र्क़ है। ऐसे भी काफ़ी लोग हैं जिनके बच्चे इलाक़े में और इलाक़े से दूर अमीर स्कूलों में पढ़ते हैं। इलाक़े में जगह की कमी की सूरत में यह लोग स्कूल का इस्तेमाल अपनी और ज़रूरियात के लिए करना चाहते हैं। स्कूल की भी अपनी मजबूरियां हैं। जैसा कि मैं पिछले लेखों में लिख चुकी हूं स्कूल इन्तज़ामियां स्कूल का बाहरी मैदान छुट्टी के रोज़ किसी तक़रीब या शादी वग़ैरा के लिए किराए पर देता है। कई बार यह इस्रार भी रहता है कि स्कूल मैदान हम छुट्टी वाले दिन के अलावा भी किराए पर उठाएं। आप तो जानते ही हैं हमारा स्कूल दो शिफ़्ट में चलता है, बच्चों की पढ़ाई में अड़चन होगी, इसलिए स्कूल ने इसकी सख़्त मुख़ालफ़त की है। सिफ़ारिश के फ़ोन तो सीधा इलाक़े के छोटे से लेकर बड़े नेताओं से आए हैं। क्या करें वह भी आदत से मजबूर हैं, गुमान हो गया कि फ़ोन घुमाते ही इदारे अदब से सिजदा करते हुए नज़र आएंगे। सीधा फ़ोन पर नेता मोहतरम ने मुझसे भी बात की। मैंने बड़ी इज़्ज़त से अपनी मजबूरी बयान की कि सोसाइटी के प्रज़िडेन्ट मेरे जामिया के नियोजक भी हैं, मुझे नौकरी से बरख़ास्त ही न कर दें। कहा उन्हीं से इजाज़त ले लें। उसके बाद भी जब लोग नहीं माने तो पुलिस में शिकायत दर्ज करवाई। पुलिस की मदद से शाम तक स्कूल ही में रुककर यह सुनिश्चित भी किया कि वहां पर ज़ोर-ज़बरदस्ती टैन्ट वग़ैरा न लग पाएं। शादी का इन्तेज़ाम लोगों को बाहर सड़क पर करना पड़ा। ऐसा कई बार करने पर एक ज़ोरदार संदेश मौहल्ले-बिरादरी तक पहुंचा और उनकी ज़ोरावरी कम हुई। बाद में एक रुत्बे हैसियत वाले बुज़ुर्ग ने कहा, ''मैडम आपका लिहाज़ किया वरना मजाल नहीं थी कि कोई हमें यहां शादी करने से रोक पाता।'' ख़ैर, मेरी नज़र में इदारे ने यह साफ़ कर दिया कि वह कमज़ोर तबक़े के लिए खड़ा है और तालीम के काम से जुड़ा है। मैं यह सोचती हूं कि ऐसे मौक़ों को इस्तेमाल करके, बच्चों और स्टाफ़ को सही मुख़ालफ़त और दबाव बनाने की अच्छी शिक्षा दी जा सकती है। अगर स्कूल में इस मुद्दे पर बात-बहस होती और सभी को साथ लेकर अगर मुखालफ़त की जाती तो न मैं इतना अकेला और निहत्था महसूस करती और साथ ही यह एक अच्छी शिक्षा और सोच को स्थान देता। इस तरह के और मौक़े भी रहे हैं जब स्कूल ने मौहल्ले के हड़काने का ज़ोरदार जवाब दिया है। शाम की छुट्टी से पहले, पता चला कई टीमें हमारे ग्राउण्ड में वॉलीबॉल खेलने आ जाती थी। मैच रातभर चलते हैं और साथ ही इनमें पैसा और सट्टेबाज़ी भी चलती है। इसे भी पुलिस की मदद से बंद करवाया।

मक़ासिद पर लौटना तय करना

जब शुरू में स्कूल संभाला तो पता चला कि स्कूल में ओपन स्कूल का और तार संचार से चलने वाली एक यूनीवर्सिटी का सेन्टर चल रहा है। सोसाइटी जो स्कूल चलाती है उसने तय किया कि उसके स्कूलों से कोई और सेन्टर नहीं चलेगा। हमारी मैनेजिंग कमेटी ने भी इसे मंज़ूरी दे दी। इस फ़ैसले के पीछे कई वजह रहीं। एक तो स्कूल के बच्चों के तहफ़ुज़ की। शाम को जब प्राइमरी स्कूल चलता था तब हमारे यहां कई और कक्षाएं भी चलती थीं जिसमें बड़े लोग जवान बच्चे शामिल होते हैं। दूसरा हमारे स्कूल के बच्चें जो सी.बी.एस.ई. के इम्तिहान में पास नहीं हो पाते थे उन्हें इत्मिनान रहता है कि ओपन स्कूल से तो (ग़लत-सही तरीक़े से) कर ही लेंगे। बताइए, पहले से ही हिम्मत पस्त कर लेना कहां तक दुरुस्त है। इसके अलावा पैसों की हेराफेरी के इल्ज़ाम। क्योंकि हम अपना इदारा भी सही तौर से नहीं चला पा रहे थे इसलिए सोचा सारी हिम्मत ताक़त उसी में ख़र्च कर दी जाए। ख़ैर, सेन्टर तो बन्द कर दिए गए लेकिन हर तरफ़ से चढ़ाई हुई। नेताओं के फ़ोन आए, आर.टी.आई. के तहत सूचना मांगी गई, प्रेस वालों

ने अख़बार की सुर्खियां छापीं। काफ़ी लोग इस सिलसिले में मुझसे भी मिले, कहा, ''मैडम क्यों बंद करवा रही हैं, परदे वाली ग़रीब बच्चियां घर बैठे बारहवीं कर लेती थीं और बी.ए. का फ़ार्म भी भर देती थीं।'' ढेरों लोगों ने हंगामे की धमकी दी। यह भी कहा, ''बाकी ग़ैर-मुस्लिम इलाक़ों में, पंजाबियों के इलाक़ों में सेन्टर पड़ते हैं, यहां चलने दीजिए आपका बहुत एहसान होगा, मुसलमान वैसे ही कहां पढ़ पा रहे हैं''। मैंने कुछ को टाला, कुछ को जवाब दिया, ''भाई बात ऊपर तक पहुंचा देंगे।'' बहरहाल सेन्टर बन्द कर दिए गए। बिरादरी के हिसाब से नुक़सान ही नुक़सान था, हमारे हिसाब से कुछ फ़ायदे भी थे। जैसा कि आप अंदाज़ा लगा सकते हैं, इलाक़े में कराहने की आवाज़ों के बीच, सिसकियों के बीच, तोहमत और ढेरों ख़िताबों (जैसे जाहिल, गंदे, चार शादियां करने वाले, तलाक़ देने वाले और अब आतंकवादी भी) के बीच पढ़ाई की एहमियत को पहचाना जा रहा है। कभी खुशामद से कभी धमकी से, कभी स्कूल पर हक़ दिखाकर दाख़िले की नम्बर-हाज़िरी बढ़ाने की दरख़ास्त आती रहती हैं। एक दिन दो बच्चों को ऑफ़िस में पेश किया गया। पता चला ग्यारहवीं में फ़ेल थे। उस वक़्त ऑफ़िस में एक समाजी ख़िदमदगार भी मौजूद थे। बोले, ''मेहनत तो करनी पड़ेगी वरना ऐसी ही ज़िन्दगी गुज़ारोगे कुत्तों-बिल्लियों जैसी, जैसी हम गुज़ार रहे हैं। पैंट बुशर्ट उतर जाएगी, कुर्ते-पाजामे में आ जाओगे।''

इस बात की तकलीफ़ है कि मौहल्ले-बिरादरी से एक अच्छा रिश्ता बनाने और साथ में काम करने में मैं नाकाम रही हूं। आवाज़ों को गहराई से समझने, तवज्जह देने और साथ में काम करने का मौक़ा नहीं मिला। बस वक़्ती मरहम-पट्टी से काम चल रहा था। हां, वालदैन का दख़ल और उनकी एहमियत तो इस बीच स्कूल में बढ़ी लेकिन मैं बाक़ी फ़िक्र रखने वाले लोगों की बात कर रही हूं। मौहल्ले के लोगों को भी इसका ख़ूब एहसास रहा। शादियों के लिए मैदान नहीं दिया, सेंटर बन्द करवाए। उन्होंने जवाब मांगा तो टाला-मटोला, धमकी दी तो मुक़ाबला किया। हां, हमेशा इज़्जत से, एहतराम से बात ज़रूर की। लेकिन शायद और मौक़ों, कोशिशों की कमी की सूरत में यह भी एक हथियार ही था। मैं अपनी बात कह रही थी, समझा रही थी उनकी कम सुन रही थी या कम ही समझने को तैयार थी। अक्सर सुनने को मिलता रहा है। ''भई, यह पढ़े-लिखे लोग हैं, इनसे बहस-करना-जीतना मुश्किल है।'' या फिर, ''काम कुछ नहीं करतीं बस मुंह में टॉफ़ी दे देती हैं।'' यानी बहला देती हैं। कभी सोचती हूं कि स्कूल जिसमें स्टाफ़ की भी तैयारी हो, वह क्या समाजी बदलाव का कुछ हद तक मरकज़ बन सकता है? शायद स्कूल के मैदान का इस्तेमाल एक सांस्कृतिक सेंटर बनाने के लिए- जहां मौहल्ले के लोग आएं- अच्छी फ़िल्में देखें, बात-बहस के मौक़े हों, औरतों के लिए मिलने की जगह हो, जहां स्वयं सहायता समूह (Self help groups) बन पाएं, किताबें और अख़बार हों- किया जा सकता था। मैनेजर का काम बस चैक काटना और तन्ख़्वा के बिल पर हस्ताक्षर करना ही माना जाता है। जबकि स्कूल के साथ काम की समाजी तौर पर एहमियत है, शिक्षा के क्षेत्र की गहरी समझ मुझे मिल रही है, मैं लिख पा रही हूं और साथ ही स्कूल और जुड़े हुए लोग भी बदल रहे हैं और यह काम मेरे यूनिवर्सिटी के काम को जड़ें दे रहा है। फिर भी खुलकर काम करने और फ़ैसले लेने का हक़ मुझे तंत्र ने कम ही दिया है। सोसाइटी के बहुत से फ़ैसलों के आगे मुझे मजबूर होना पड़ा है।

मज़हब का शीशमहल

वैसे, मौहल्ले-बिरादरियों के एक मिले-जुले हक़ के आगे तो हम चूं भी नहीं कर पाए हैं। भई, मज़हब का नाज़ुक मामला है। हमारे स्कूल में एक बड़े गेट के अलावा पीछे की तरफ़ एक बड़ा दरवाज़ा भी है। जुमें के दिन गेट और दरवाज़ा दोनों खोल दिए जाते हैं। हमारे पिछले दरवाज़े से लगी मस्जिद है जहां जुमें के दिन नमाज़ी हमारे स्कूल से गुज़रते हुए जाते हैं। अपनी गाड़ी-स्कूटर भी हमारे मैदान में खड़े करते हैं और कुछ तो वुज़ू भी बनाते हैं। दोपहर में लगने वाला स्कूल उस दिन एक घंटा देर से शुरू होता है। मस्जिद में जाने के और भी रास्ते हैं लेकिन काफ़ी नमाज़ी हमारे स्कूल से होकर छोटे रास्ते से मस्जिद पहुंचना पसंद करते हैं। एक दिन तो इन्तिहा हो गई। देखा गेट से गुज़रते हुए लोग मस्जिद की तरफ़ जनाज़ा लिए जा रहे हैं। अजीब मंज़र था जो मुझे दम घुट रहे अरमानों की याद दिला गया। पता नहीं हमारे स्कूल ने मां-बाप- बिरादरी के कितने ही अरमानों का जनाज़ा देखा होगा।

शक-शुबह, तोहमत

जैसे कि मैंने कहा कि हमारा स्कूल बहुत से लोगों को चकनाचूर ख़्वाबों का मुजस्सिमा लग सकता है। हां, कुछ के ख़्वाब पूरे होना एक उम्मीद ज़रूर जगाता है और लोगों को जुटे रहने के लिए उकसाता है। जब हम अपने मक़सद में बहुत कामयाब नज़र नहीं आएंगे, निज़ाम बहुत सही नहीं होगा, शायद पारदर्शिता में भी कुछ कमी रह गई होगी तो उंगलियां तो हम पर उठेंगी ही। शक-सुबह और रंजिश के दायरे में तो स्कूल हमेशा रहता ही है। जैसे वालदैन टीचर कमेटी के एक मेम्बर ने शिकायत की, ''मैडम, आप इन टीचरों को ज़रा कसिए। कोई ठीक से क्लास नहीं लेता। हमें पता है न। यह लोग हर हफ़्ते टैस्ट की बात कर रहे हैं, कोई टेस्ट-वैस्ट नहीं हुआ।'' यह भी इल्ज़ाम है, ''इतने बच्चे दीवार कूद-कूदकर भागते हैं। यह खुद भगा देते होंगे, पढ़ाना कहां चाहते हैं।'' समाजी-खिदमदगार इस फ़िराग़ में भी लगातार लगे रहते हैं कि स्कूल में पैसा कितना आ रहा है और कौन खा-पी रहा है। जब हर सरकारी इदारे को और सरकारी नौकर को गिरते-बिकते देखा है तो फ़िक्र भी ठीक है। फ़िक्र में शामिल है कि वज़ीफ़े का पैसा कितना आया, ठीक से बंटा या नहीं? स्कूल जो सालाना फ़ीस लेता है (जो पहले पांच सौ थी और अब छः सौ हो गई थी) उसका इस्तेमाल कैसे किया गया? इन सबके बारे में सूचना अधिकार के तहत आर.टी.आई. (RTI) आती रही है। एक आर.टी.आई. में तो हमसे हमारे तमाम फंड का ब्यौरा मांग लिया था। स्कूल वक़्फ़ की जायदाद पर चलता है। कभी 20-25 साल पहले स्कूल के कुछ हिस्सों में स्टाफ़ के कुछ लोग रहते थे। बच्चों की तादाद बढ़ने पर यह हिस्से स्टाफ़ को दिए जाने बन्द हो गए। लेकिन हमारे एक टीचर और एक चौकीदार के परिवार दो हिस्सों पर क़ाबिज हो गए। आस पास के लोग इनकी गतिविधियों पर कड़ी नज़र रखते हैं और हमें ख़बर देते रहते हैं। जैसे एक बार फ़ोन आया, ''बाजी, वह रमीज़ कमाल कुछ कमरा-वमरा बनवा रहा है। रुकवाइए''। रुकवाया, पुलिस को ख़बर की, एम.सी.डी., वक़्फ़ वगैरा को ख़त भी लिखे। फिर एक दिन बताया, ''मैडम वह शुना वाला घर सुना है बिक गया है किसी बिल्डर के हाथों। इतने दिन से बार-बार प्रिंसिपल को बता रहे हैं, आप लोग कुछ करते क्यों नहीं? लगता है स्कूल ने ही पैसा खा लिया है, मैं तो साफ़ बात कहता हूं।'' ख़ैर, फिर से पुलिस को और बाक़ी एजेन्सियों को ख़त लिखा। अफ़वाह ही रही होगी।

नेताओं के साथ दलाल और पत्रकार भी जुड़े रहते हैं। पैसों के लेन-देन और ख़बरें उछालने का खेल भी आम रहता है। मैंने पाया है कि सिर्फ़ मौहल्ले-बिरादरी के ही नहीं बल्कि हमारे टीचर हज़रात में भी पैसों में धांधलेबाजी का आख्यान आम है। शायद इसकी वजह यह है कि बिरादरी में छोटे व्यापारी, ठेकेदार, मज़दूर की ज़िन्दगी बस कितना कमाया-बचाया-हासिल किया- खर्च़ किया के इर्द-गिर्द ही घूमती है। अफ़सोस हमारे बहुत से असातूज़ा भी अपने काम को एक बुद्धिजीवी के काम के रूप में नहीं देखते हैं। एक बार को लगता है कि पत्ते के हिलने के पीछे भी माली फ़ायदा तलाश किया जाता है। कई बार तो तन्ख्वा के 5 फ़ीसदी की फ़िक्र में एक महिला टीचर ने कहा भी है, ''मैम, हम लोग जिस वजह से घर से क़दम बाहर निकालते हैं अगर वह ही पूरा नहीं हुआ तो...''। असातूज़ा में से कई लोग मौहल्ले में ही रहते हैं और वैसे भी बातचीत तोहमत-इल्ज़ाम बिरादरी के ऐंटीना तक पहुंच ही जाता है। जैसे हमारे स्कूल की पहली मंज़िल पर एक बड़ा हॉल और कई छोटे कमरे बने हुए हैं। यह काफ़ी बुरे हाल में थे और लगा कि अगर गिर ही गए तो नीचे की बोसीदा इमारत को भी नुक़सान होगा। पहले पैसों की क़िल्लत की वजह से सोचा ढाहकर मलबा फिकवा दें फिर लगा ठीक करवा लें तो काम ही देंगे। खैर ठीक करवाए - मरम्मत हुई, छत को मज़बूती देने के लिए गर्डर लगे, पुताई हुई, बिजली का काम हुआ, पंखे वगैरा भी लगे। सोसाइटी के एक सदस्य ने अपने कुछ पैसे ख़र्च किए और पचास हज़ार रुपये स्कूल के भी लगे। बाद में पता चला कि स्कूल में अफ़वाह फैली है जो ज़रूर बाहर तक भी पहुंची होगी कि लाखों रुपये ख़र्च हुए, खाए गए। साथ ही उन कमरों को, तंज़िया, वाइट हाऊस (White House) के नाम से पुकारा जा रहा था। अगर कुछ ग़लती स्कूल से हुई तो वह यह कि ख़रीद-फ़रोख़्त कमेटी के सारे मेम्बर प्रक्रिया में शामिल नहीं हुए। जो नहीं थे वह शक तो कर ही सकते थे। यह भी सच है कि स्कूल में अब भी इंतज़ाम और पारदर्शिता बेहतर होने की गुंजाइश है। जिस इदारे में जनता का पैसा आता है उसे इन चीज़ों का ज़्यादा ख़्याल रखने की ज़रूरत है और हमारी जवाबदेही तो बनती ही है।

काश ऐसा पाठ्यक्रम हो पाता

बहुत-सी चीजों में से एक चीज़ जिसका मुझे अफ़सोस रहेगा वह है इन मौहल्लों, गली-कूचों की तहज़ीब रहन-सहन शऊर को मैं पाठ्यक्रम में शामिल करने की अपनी और स्टाफ़ की तैयारी नहीं कर पाई। कभी और इसकी कोशिश ज़रूर करूंगी। पुरानी दिल्ली की इन गलियों के खाने, खेल, ज़बान सभी नायाब हैं। खाने की बात करें तो ख़स्ता बाख़रख़ानी की खुशबू, नूरा की नहारी पाए और हब्शी हलवे की सोंधी महक मुंह में पानी ले आती है। बहुत से ऐसे खाने भी हैं जो अब खो गए हैं, इन्हें ढूंढ़ने की कोशिश हो सकती है। आज भी हमारे स्कूल के आस-पास कबूतरों को बुलाने-उड़ाने की आवाज़ें सुनने को मिल जाएंगी। मुर्ग़ों को आपस में लड़ाने के खेल भी देखे जा सकते हैं। चाहे चिड़िया प्रेमी इन खेलों को ग़लत बताएं लेकिन इन खेलों के इतिहास और आम आदमी की ज़िन्दगी में जगह देखने की ज़रूरत है। कुश्ती के अखाड़े आज भी इलाक़े में देखे जा सकते हैं, एक तो स्कूल की दीवार से लगा हुआ है। हमारे स्कूल के कई बच्चे भी उस्तादों से कुश्ती सीखते हैं। गली-कूचों मौहल्लों की ज़बानें आपस में फ़र्क और अनोखी हैं। यह फ़र्क़ सिर्फ़ बसने वालों के आबाई वतन की ज़बान की वजह से नहीं बल्कि उनके व्यापार पर भी निर्भर है। काफ़ी लोग जूते-चप्पल बेचने के कारोबार से भी जुड़े हैं। उनके कुछ जुमले इस तरह के भी होते हैंः ''यह तो सोल है'' (जिसे पसंद नहीं करेंगे उसके लिए कहा जाएगा), या फिर 'सरिए इंच लो' (यानी पहले पैसा ले लो)। क़साबपुरा के लोगों के जुमले होंगेः ''पसेरा निकात हो रिया है'', या फिर ''लम्बे को ला बुला के।'' ज़बान से शनाख़्त भी होती है और जुमले भी कसे जाते हैंः ''फ़राशख़ाने का लगता है'', ''क़साबपुरे का है क्या?'' यह तमाम रंगा-रंग फ़र्क जो कि तहज़ीब, रहन-सहन, ज़बान, एक ही मज़हब के अलग-अलग अक़ीदों का आइना हैं, उन्हें समझने-सराहने से एक-दूसरे के लिए ही नहीं बल्कि बाहरी समाज के लिए भी इज़्ज़त पैदा होगी। मुझे लगता है हमारे बच्चों के सामाजिक-राजनैतिक विषय का पूरा पाठ्यक्रम ही ज़िन्दगी के ईर्द-गिर्द जैसे- मौहल्ले, आपसी फ़र्क, राजनीतिक दांव-पेच इख़्तलाफ़, आपसी रिश्ते, सत्ता, नेता-नेतागिरी, रोज़गार काम-कमाई, जैण्डरीय फ़र्क़, राज्य के रोल-को लेकर बनाया पढ़ाया जा सकता है। शायद तब ही बच्चों को अपनी ज़िन्दगी को समझने-बदलने के सुराग मिल पाएंगे। शायद फिर फ़ैज बोल पड़ेः

यह चाहें तो दुनिया को अपना बना लें
यह आकाओं की हड्डियां तक चबा लें

कोई इनको एहसास-ए-ज़िल्लत दिला दे
कोई इनकी सोई हुई दुम हिला दे।

मौहल्लों-बिरादरियों-राज्य और स्कूल के बीच के अन्दरूनी तनाव, सत्ता के खेल, इख़्तलाफ़ात को नज़र में रखते हुए अगर हम शिक्षा के अधिकार बिल के तहत स्कूल इन्तज़ामिया कमेटी की बनावट को देखते हैं तो कई सवाल ज़हन में आते हैं। क्या वालदैन की 75 फ़ीसदी हिस्सेदारी यह सुनिश्चित कर पाएगी कि उनका स्कूल के चलने में दख़ल रहे? चाहे बज़ाहिर यह मुमकिन लगता हो। लेकिन यह देखते हुए फैसले लेने होंगे कि हम स्कूल मैनेजिंग कमेटी के लिए किस तरह का रोल सोच रहे हैं। जिस तरह की समस्याएं हमारे स्कूल के सामने रही हैं, जैसे स्कूल के मैदान की, नेताओं और समाज सेवकों के दख़लअन्दाज़ी की, उन्हें देखते हुए हमें स्कूल इन्तज़ामिया कमेटी के बारे में गहराई से सोचना होगा। माओं और कमज़ोर तबक़े को क्या बस शामिल कर लेना ही काफ़ी होगा? या फिर उन्हें तहफ़ुज और पूरी मदद भी देनी होगी। अगर चुने हुए प्रतिनिधि को शामिल करना हो तो किसे किया जाए? क्या वह कमेटी को ताक़त देगा या फिर ताक़त छीन लेगा? साथ ही स्कूल के प्रिंसिपल और टीचर का बहुत अहम रोल हो सकता है। लेकिन वे इस रोल के लिए कितने तैयार हैं? ◆